ARYAVART SHODH VIKAS PATRIKA
RNI TITLED NO. UPBIL**04292**
RNI REG. NO. UPBIL/**2014/66218** **PP. No.- 197-204**

I S S N NO. - 2347 – 2944 (Print)
e–I S S N NO.- 2582 – 2454 (Online)
Vol.-20, No.- III, Issues-41, YEAR- July-Sept. 2026

स्वर्णकाल में मनोविनोद

डॉ0 मनिका टण्डन
असिस्टेन्ट प्रोफेसर– बी0ए0, एल0एल0बी0, इतिहास विभाग, आगरा कॉलेज, आगरा (उ0प्र0) भारत

Received-11.08.2026, Revised-19.08.2026, Accepted-25.08.2026, **E-mail:kapoordigimaharaja@gmail.com**

सारांशः गुप्तकालीन भारत के सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन में मनोरंजन एवं आमोद–प्रमोद को विशिष्ट स्थान प्राप्त था। उस समय लोगों का जीवन अपेक्षाकृत अधिक सुखी एवं समृद्ध था तथा उन्हें अपने जीवन–संग्राम में अधिक व्यस्त नहीं रहना पड़ता था। वस्तुतः नागरिकों की निश्चिन्त मनोवृत्ति, समृद्धिशालिता तथा प्रकृति एवं विभिन्न ऋतुओं की रमणीयता आदि मनोविनोद की अभिवृद्धि के लिए अपेक्षित हैं तथा इन सबका उस समय बाहुल्य था, जिसके परिणामस्वरूप मनोविनोद के अन्यान्य साधनों का विकास हुआ। इस युग में अभिनय, नृत्य, संगीत, काव्य आदि कलाओं का ज्ञान एवं अभ्यास व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक माना जाता था तथा विश्वास किया जाता था कि इससे सौभाग्य एवं सब प्रकार के उत्कर्ष की प्राप्ति होती है। दैनिक जीवन में तो मनोविनोद को स्थान मिला ही था, किन्तु उसका विशद रूप राजकीय उत्सव–समारोहों, ऋतु–सम्बन्धी पर्वों तथा संस्कार आदि पारिवारिक उत्सवों के सुअवसरों पर विशेषरूप से दृष्टिगोचर होता था। अनेक उत्सवों का आयोजन राजाओं के द्वारा सार्वजनिक आमोद–प्रमोद के रूप में होता था। समाज का मनोविनोद करने में राजा, समृद्धिशाली नागरिक तथा कंठवाचक आचार्य आदि अपने जीवन की सफलता मानते थे। वस्तुतः अपने धन के सदुपयोग की दिशा में सार्वजनिक मनोविनोद के साधनों को प्रस्तुत करना पुण्य और यश का कार्य माना जाता था।

कुंजीभूत शब्द– स्वर्णकाल, मनोविनोद,सामाजिक वसांस्कृतिक जीवन, मनोरंजन, आमोद–प्रमोद, जीवन–संग्राम, मनोवृत्ति, समृद्धिशालिता।

प्रस्तावना– भारतीय धर्म में भी कतिपय मनोविनोदात्मक कलाओं की ऊँची प्रतिष्ठा रही है। स्वयं शिव, गणेश एवं कृष्ण आदि देवता तथा सरस्वती एवं पार्वती आदि देवियाँ नृत्य–संगीत आदि कलाओं के उन्नायक रहे हैं। सभी धार्मिक अनुष्ठानों में नृत्यादि की प्रतिष्ठा स्थापित हो चुकी थी तथा विश्वास किया जाता था कि देवता गन्धमाल्य से उतना प्रसन्न नहीं होते, जितना नृत्य और नाट्य से होते हैं। बौद्ध एवं जैन धर्म के प्रचार का आयोजन नाटक के द्वारा होता था। इन सबसे लोगों का स्वस्थ मनोरंजन भी होता था।

भारतीय प्रकृति ने भी मनोविनोद के अभ्युदय में सदैव ही सहयोग दिया है। वह अपनी नित्य नूतन सुषमा के द्वारा मानव–हृदय को प्रकुल्लित करके आनन्द मनाने के लिए प्रेरित करती थी। भारत की ऋतुएँ, पर्वत, वन एवं सरिताएँ सभी सुखदायिनी रही हैं, जिनके मध्य उस समय भारतीय जीवन सुखी, सम्पन्न, निश्चिन्त एवं मनोविनोद की अभिवृद्धि के सर्वथा अनुकूल हो रहा।

परन्तु मनोविनोद के माध्यम से जीवन को सरस एवं सौन्दर्यमय बनाने में जो महत्त्वपूर्ण पृष्ठभूमिका भारतीय दार्शनिक विचारधारा ने प्रस्तुत की, वह अप्रतिम ही रही है। पुनर्जन्म और कर्मफल के सिद्धान्त को स्वीकार कर लेने के पश्चात् इस जगत को एक समुचित एवं सामंजस्यपूर्ण विधान ही माना जाता था तथा विश्वास किया जाता था– कि यदि दुःख है, तो इसमें असंतुष्ट होने का कोई कारण नहीं, क्योंकि मनुष्य इस संसार में अपने कर्म का फल भोगने को ही आया है। इस असंतोष के अभाव ने सामाजिक वातावरण को आनन्दोल्लास एवं हर्षोल्लास के सर्वथा अनुकूल बना दिया। इस कारण इन आनन्दोत्सवों को मात्र थके हुए मस्तिष्क का आवश्यक विश्राम नहीं, अपितु परम मांगल्य के रूप में स्वीकार किया जाता था। इस प्रकार सामाजिक संस्कृति का सर्वोच्च विलास मनोविनोद में व्यक्त होता था।

गुप्तकालीन लोगों का सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन आमोद–प्रमोद के विभिन्न साधनों से परिपूर्ण था, जिसकी पृष्ठभूमि में एक दीर्घकालीन परम्परा विकसित हो चुकी थी। अधिकांश मनोरंजन के साधनों को कलात्मक विनोद की श्रेणी में परिगणित किया जाता था। आचार्य वात्स्यायन ने जिन 64 कलाओं[1] का उल्लेख किया है, वे सभी मनोविनोद से घनिष्ठ सम्बन्ध रखती थीं। इन सब कलाओं का ज्ञान प्राप्त करना उस समय सभ्य एवं सुसंस्कृत व्यक्तियों के लिए आवश्यक समझा जाता था। इससे जीवन में सौभाग्य एवं उत्कर्ष की प्राप्ति होती थी।[2] गुप्तकाल में प्रचलित विभिन्न मनोरंजन के साधनों का वर्णन निम्न प्रकार प्रस्तुत हैः

नाट्याभिनय– नाटक की प्रतिष्ठा एवं लोकप्रियता काव्य की अपेक्षा सदैव अधिक रही है। किसी वस्तु को देखने का आनन्द उसके सुनने की अपेक्षा कहींकृ अधिक होता है। काव्य में रसानुभूति के लिए अर्थ का समझना नितान्त आवश्यक होता है, परन्तु नाटक में इसकी आवश्यकता नहीं रहती। इसीलिए नाटक की समता चित्र से की गई है।[3] जिस प्रकार चित्र भिन्न–भिन्न रंगों के सम्मिश्रण से सहृदय दर्शकों के चित्त में रस का स्रोत बहाता है, उसी प्रकार नाटक भी वेशभूषा, नेपथ्य, साजसज्जा आदि से दर्शकों के हृदय पर एक अमिट प्रभाव डालता है तथा उनके हृदय में आनन्द का संचार करता है।

नाटक का उद्देश्य भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। भरत ने नाट्य को 'सर्ववर्णिक' वेद कहा है; क्योंकि अन्य वेद केवल द्विजमात्र के लिए उपयोगी तथा उपादेय होते हैं, परन्तु नाटक का उपयोग प्रत्येक वर्ण के लिए है। प्रत्येक व्यक्ति इसके आनन्द का अधिकारी माना गया है। नाटक का प्रभाव भी किसी एक ही प्रकार की अभिरुचिवाले लोगों के ऊपर नहीं होता, अपितु यह सार्वजनिक मनोरंजन होने के कारण समाज के लिए ग्राह्य तथा उपादेय होता है। नाटक का विषय भी सीमित नहीं होता, प्रत्युत तीनों लोकों के भावों का अनुकीर्तन इसमें रहता है।[4] यह शक्तिहीनों के हृदय में शक्ति का संचार करता है, शूरवीरों के हृदय में उत्साह का संवर्धन करता है, अज्ञानियों को ज्ञान प्रदान करता है तथा विद्वानों में विद्वत्ता का उत्कर्ष करता है।[5] भरतमुनि का कथन है कि कोई भी ज्ञान, शिल्प, विद्या, योग अथवा कर्म ऐसा नहीं है जो इस नाट्य में दृष्टिगोचर न होता हो।[6] इसी लिए कालिदास ने भिन्न रुचिवाले लोगों के लिए नाटक को एक सामान्य मनोरंजन का साधन बतलाया है।[7]

नाट्याभिनय की उत्पत्ति ऋग्वैदिक काल में हो चुकी थी, जिसका उद्देश्य दर्शकों का मनोरंजन था। नाट्य के विकास में नृत्य, गीत, वाद्य आदि जिन आवश्यक उपादानों की आवश्यकता होती है, उनकी सत्ता प्रचुर मात्रा में वैदिक युग में विद्यमान थी। इस समय से लेकर गुप्तकाल तक नाट्याभिनय के विकासक्रम की निरन्तरता बनी रही थी तथा गुप्तयुग के प्रारम्भिक समय तक भरतनाट्यशास्त्र की रचना हो चुकी थी।[8] विद्वानों का अनुमान है कि इस ग्रन्थ का वर्तमान संस्करण गुप्त–युग में ही तैयार किया गया था तथा संस्कृत के प्रारम्भिक नाटककार इस नाट्यशास्त्र से अवश्य परिचित थे। नाटक का धार्मिक दृष्टि से सुप्रतिष्ठित होना भी

अनुरूपी लेखक/ संयुक्त लेखक

इसके विकास का एक महत्त्वपूर्ण कारण बना। भरत के अनुसार, 'देवता गन्धमाल्य आदि पूज्य सामग्रियों से उतना प्रसन्न नहीं होते हैं, जितना नाट्य से।'[9]

अभिनय अथवा नाट्यकला गुप्तयुग में अपने चरमोत्कर्ष को पहुँच गयी थी। यह कालिदास की रंगमंचीय ललित नाट्य– कृतियों से निर्विवाद है। 'प्रयोगप्रधान'[10] दृश्य–काव्य होने से नाटक के पात्रों के अभिनय–कौशल पर विशेष ध्यान रखा जाता था। अतः पात्रों का चयन गुण और योग्यता के आधार पर किया जाता था, ताकि उनके अभिनय–कौशल से विद्वान प्रेक्षकों को सन्तोष प्राप्त हो सके। अभिज्ञानशाकुन्तलम् के सूत्रधार के शब्दों में अभिनय की सफलता विद्वानों को परितुष्ट करने में ही है।[11] विद्वत् परिषद् के सामने कालिदास के नवीन नाटक 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' के प्रथम प्रदर्शन के अवसर पर सूत्रधार ने प्रत्येक पात्र को यत्न के साथकृ अपना कौशल प्रकट करने का निर्देशन दिया था।[12] परिषद् द्वारा चुने गए नाटक ही अभिनीत किए जाते थे। मालविकाग्निमित्र के सूत्रधार के अनुसार वसन्तोत्सव पर विद्वत् परिषद् ने ही उस नये कवि कालिदास–रचित मालविकाग्निमित्रम् नाटक को अभिनीत करने का निर्देश दिया था।[13] कालिदास तब तक एक अपरिचित, नवोदित कवि थे, जिस कारण पारिपार्श्वक ने सूत्रधार से पुराने प्रख्यात कवियों की जगह नये कवि की रचना अपनाये जाने पर संशय प्रकट किया था। इस पर सूत्रधार ने कहा थाकृ'पुराने होने से न तो सब अच्छे हो जाते हैं, न नये होने से सब बुरे होते हैं। समझदार लोग तो दोनों को परखकर उनमें से जो अच्छा होता है, उसे अपना लेते हैं और जिन्हें अपनी समझ होती ही नहीं है, उन्हें तो जैसा दूसरे समझा देते हैं, उसे ही वे ठीक मान बैठते हैं।'[14] प्रकट है कि तत्कालीन निष्पक्ष व विवेकशील विद्वान आलोचकों ने नवोदित कवि कालिदास की काव्य–मर्मज्ञता को पहचान कर ही प्रथित यश वाले भास, सौमिल्ल व कविपुत्र जैसे पुराने नाटककारों की जगह उनकी काव्य–रचना मालविकाग्निमित्र को रंगमंच पर आदर दिया था।

निर्विवादतः कालिदासीय नाटकों के सुअभिनय और सुप्रदर्शन के लिए सम्पन्न अभिनय–कला और प्रोन्नत रंगमंच आवश्यक उपकरण थे। महाकवि के नाटकों का उनके समय में सफलतापूर्वक अभिनीत किया जाना स्वतः प्रमाणित करता है कि गुप्तयुग में भारतीय नाट्यकला पूर्णतया विकसित हो चुकी थी और उसका शास्त्रीय ढंग पर अध्ययन, मनन तथा अनुशीलन किया जाता था। महाकवि के नाटक प्राचीनकृनाट्य–शास्त्र के नियमों पर ही आधारित हैं। महाकवि के सभी नाटक भरतमुनि के वाक्य के साथ समाप्त होते हैं।[15] इससे प्रकट है कि कालिदासीय नाट्यकला भरतमुनि के नाट्यशास्त्र के विधान पर आधारित थी।

विश्वास किया जाता है कि गुप्तकालीन रंगमंच भरत के नाट्यशास्त्र में वर्णित रंगमंच के समान ही होते रहे होंगे। नाट्यशास्त्र के अनुसार रंगशाला की व्यवस्था इस प्रकार की जाती थी कि संलाप, गायन और श्रवण अच्छी तरह हो सके। इसके लिए रंगमंच के सामने दर्शकों के लिए मंचवत् अर्थात् सोपान सरीखी गैलरी होती थी।[16] कालिदास ने भी इन्दुमती के स्वयंवर की चर्चा करते हुए रघुवंश में इसी प्रकार के दर्शक–कक्ष का उल्लेख किया है।[17]

रंगमंच के दो भाग होते थे। आगे का भाग, जहाँ अभिनय प्रस्तुत किया जाता था, प्रेक्षागृह कहलाता था[18] और उसके पीछे का भाग नेपथ्य कहलाता था।[19] वहाँ अभिनेता अभिनय के निमित्त अपनी रूप–सज्जा किया करते थे। प्रत्येक अभिनेता का उसके अभिनय के अनुरूप वस्त्र और भूषा होती थी और अभिनय के समय वे उसी से पहचाने जाते थे। कालिदास ने रंगशाला के प्रसंग में तिरस्करिणी[20] शब्द का प्रयोग किया है। लोगों की धारणा है कि इसका तात्पर्य पर्दे से है, जो प्रेक्षागृह में आजकल के समान ही दृश्य की पीठिका प्रस्तुत करते थे।

नाटक के प्रदर्शन से पूर्व प्रथमोप्रदेश–दर्शन अर्थात् रिहर्सल होता था। उस समय मांगलिक उद्घाटन के निमित्त ब्राह्मणों की पूजा की जाती थी तथा उन्हें भोजन करा कर दक्षिणा भेंट की जाती थी।[21] नाटक के आरम्भ में सूत्रधार रंगमंच पर उपस्थित होता था और किसी अभिनेता को बुलाकर उसे बताता था कि कौन–सा नाटक अभिनीत होगा और फिर उससे उसकी तैयारी करने को कहता था। तदनन्तर सूत्रधार दर्शकों की ओर आकृष्ट होता था तथा उनसे सहानुभूतिपूर्वक अभिनय देखने का अनुरोध करता था। तत्पश्चात् नेपथ्य से किसी अभिनेता की आवाज सुनायी पड़ती थी और अभिनेता मंच पर उपस्थित होते थे और इस प्रकार नाटक आरम्भ होता था। प्रेक्षागृह में नागरिक अत्यन्त शान्तिपूर्वक बैठते थे। शाकुन्तलम् में कहा गया है कि जिस समय इस नाटक का अभिनय हो रहा था, उस समय दर्शक चित्रलिखित के समान बैठे हुए थे।[22]

कामसूत्र में वात्स्यायन ने भी नागरिक के मनोरंजन का वर्णन करते समय पक्ष या मास के किसी प्रसिद्ध दिन सरस्वती के मन्दिर में समाज (उत्सव) के होने तथा उस समय बाहर से आये हुए नटों (कुशीलवों) के द्वारा अभिनीत नाटकों के प्रदर्शन का उल्लेख किया है।[23] वात्स्यायन ने 64 कलाओं की सूची में 'नाटकाख्यायिकादर्शनम्' (नाटक और कथासाहित्य आदि का परिज्ञान) का उल्लेख किया है।[24]

वस्तुतः गुप्तयुग में नाटक मनोविनोद का प्रधान साधन था। महाकवि कालिदास के अतिरिक्त भास, शूद्रक, भवभूति, विशाखदत्त आदि ने अपनी रचनाओं से नाट्य साहित्य को गौरवान्वित किया। गुप्तकाल में इतने अधिक नाटकों का प्रणयन हुआ कि उनकी संख्या किसी भी युग के साहित्यिक विकास की दृष्टि से गौरव तथा प्रचुर समृद्धि का कारण समझी जा सकती है। संस्कृत के सभी नाटक अभिनय हैं, जिससे ज्ञात होता है कि ये अवश्य अभिनीत किये जाते थे। वस्तुतः ये नाटक दर्शकों को मानव जीवन के आनन्दमय दिव्य पक्ष की अनुभूति कराते थे तथा इन नाटकों का खेला जाना गुप्तकालीन भारत में मनोरंजन का सर्वोत्तम साधन था।

नृत्य– नृत्य का प्रयोग भारत में अति प्राचीन काल से होता आया है। प्राचीनतम नृत्य की स्पष्ट रूप–रेखा का परिचय सिन्धु–सभ्यता के अवशेषों में प्राप्त नर्तकियों की मूर्तियों से मिलता है। गुप्तकाल में इस कला ने अपनी परिणति प्राप्त कर ली थी। इस समय नृत्य की लोकप्रियता पर प्रकाश डालने वाले साहित्यिक एवं पुरातत्त्व सम्बन्धी दोनों ही प्रकार के साक्ष्य उपलब्ध होते हैं।

गुप्तकाल में नृत्य नागरिकों के आमोद–प्रमोद का सामान्य साधन था। वात्स्यायन ने नृत्यम् (विभिन्न प्रकार के नृत्य) का उल्लेख 64 कलाओं के अन्तर्गत तृतीय स्थान पर किया है।[25] इस समय नगरों में नृत्य की शिक्षा देने वाले आचार्य हुआ करते थे। इन्हें नाट्याचार्य कहा जाता था।[26] मालविकाग्निमित्रम् में गणदास नामक एक आचार्य का उल्लेख मिलता है।[27] इस ग्रन्थ में सफल नाट्याचार्यों के लक्षणों को बताते हुए कहा गया है कि जो नृत्य की शिक्षा तथा क्रिया दोनों में प्रवीण हो, वह विशेष रूप से सम्माननीय है।[28] राजकुल तथा सभ्य घरानों की कन्याओं को नृत्य की शिक्षा विशेषरूप से दी जाती थी। अधिकतर राजप्रासाद में संगीतशाला होती थी, जिनमें राजवर्ग की कन्याओं का अध्यापन होता था। वहाँ वेतनभोगी सूत्रधार (आचार्य) शिक्षण कार्य करते थे। राजा संगीत को अपना उदार–संरक्षण तो देते ही थे, वे संगीत में स्वयं दक्ष भी होते थे। गुप्तशासकों में समुद्रगुप्त स्वयं एक उच्च कोटि का संगीतज्ञ था। कालिदास का राजा अग्निवर्ण नर्तकियों और उनके आचार्यों को उनके नर्तन में त्रुटियाँ बताकर लज्जित कर दिया करता था।[29] राजकुल एवं सभ्य घरानों की कन्याएँ नृत्य का अभ्यास व्यक्तिगत मनोविनोद के लिए करती थीं।

I S S N NO. - 2347 – 2944 (Print)
e–I S S N NO.- 2582 – 2454 (Online)
Vol.-20, No.- III, Issues-41, YEAR- July-Sept. 2026

सामूहिक मनोविनोद के लिए नर्तकियों तथा नर्तकों की मण्डलियाँ दर्शकों के समक्ष अपनी कला का प्रदर्शन करती थीं। कभी–कभी नगरों में नृत्यप्रतियोगिता भी हुआ करती थी। मालविकाग्निमित्र में हरदत्त तथा गणदास नामक नाट्याचार्यों की नृत्यप्रतियोगिता का वर्णन किया गया है।[30] गुप्तकाल में नृत्य की लोकप्रियता इतनी अधिक बढ़ गयी थी कि परिवार के भीतर तो कन्याएँ नृत्य सीखती और नृत्य करती ही थीं; परिवार के बाहर भी उसका व्यापक प्रचार था। मन्दिर में, समाज में, राजसभा में नृत्य हुआ करते थे। नृत्य ने एक व्यवसाय का रूप धारण कर लिया था। समाज में इसकी काफी मांग थी। लोग पुत्र–जन्म,[31] विवाह आदि के अवसरों पर घरों में उनका नृत्य कराते थे। लोगों के बीच नर्तकियों का काफी सम्मान था। उज्जयिनी के महाकाल मन्दिर में चमरधारिणी नर्तकियों की ओर महाकवि ने विशेष संकेत किया है।[32]

पौराणिक विचार–धारा के अनुसार नृत्य देवताओं की आराधना के लिए महत्त्वपूर्ण साधन है। इस विचार–धारा से नृत्य को समाज में ऊँची प्रतिष्ठा प्राप्त हो सकी तथा सभी वर्ग के लोगों ने इसे निःसंकोच भाव से अपनाया। पद्मपुराण में ब्रह्मा की आराधना के लिए नृत्य, वाद्य और संगीत आदि को साधन माना गया है।[33] स्कन्दपुराण के अनुसार यात्रा–महोत्सव के समय महात्मा लोग भी सिद्धेश्वर देवालय में भक्तिपूर्वक नृत्य करते थे।[34] विष्णु और भागवत पुराणों में कृष्ण के नृत्यों का सांगोपांग वर्णन है। कृष्ण के कालिय–दमन नृत्य और महारास नृत्य की परवर्ती युग में अतिशय लोकप्रियता रही है। कालियदमन नृत्य ताण्डव–कोटि में आता है। इसमें कृष्ण का नर्तन कालियनाग के भिन्न–भिन्न फणों पर कूदकर हुआ था।[35]

कृष्ण ने रास–मण्डल बनाकर रास–नृत्य किया था। कृष्ण नायक थे और गोपिकाएँ नायिका बनीं। कृष्ण रासोचित गीत गाते थे। गोपियाँ नाचती थीं। भागवत के महारास में कृष्ण अपनी योग–माया से अनेक होकर प्रत्येक गोपी के साथ हो लिये। देवता अपनी स्त्रियों के साथ उसे देखने आये। गोपियों के वलय, नूपुर और किंकिणी नृत्य करते समय मधुर ध्वनि करती थीं। महारास में नृत्य के अतिरिक्त शृंगारात्मक क्रीड़ाओं का बाहुल्य होता था।[36] भागवत में बालनृत्य की मनोरम–रूप–रेखा मिलती है। कृष्ण नाचते थे और अन्य गोप गाते–बजाते थे या ताल देते थे। गोप–बालों के नाचते कृष्ण भी गाते थे और ताल देते थे।[37]

नृत्य के दृश्यों का अंकन गुप्तकालीन चित्रों और तक्षण में भी हुआ है, जिनसे उनके स्वरूप का अनुमान किया जा सकता है। नृत्य के स्वरूप को अजन्ता के गुहा–चित्रों में अमर प्रतिष्ठा मिली है। पहली गुहा में अनेक वंशी बजाने वाली कुमारियों के बीच एक नर्तकी भावपूर्ण नृत्य कर रही है।[38] अजन्ता की 17वीं गुहा में नृत्य का एक अंकन मिलता है, जिसमें एक नर्तकी नृत्य कर रही है और उसके साथ चार स्त्रियाँ मंजीरा और एक पुरुष मृदंग बजा रहा है। इसी प्रकार बाघ की गुहा में दो नृत्य–समूहों का चित्रण हुआ है। इन दोनों ही नृत्य–समूहों में मृदंग, झाल और दण्ड बजाती स्त्रियों से घिरी एक स्त्री नृत्य कर रही है। सारनाथ से प्राप्त एक शिलाफलक पर शान्तिवादक जातक का दृश्य अंकित है, जिसमें एक स्त्री वेणु, भेरी, झाल और मृदंग बजाती स्त्रियों के बीच नृत्य कर रही है।[39] भूमरा के मन्दिर में एक नर्तक की मूर्ति में तत्कालीन नृत्य की झलक मिलती है।[40] भूमरा के प्रधान शिव–मन्दिर में द्वार पर वामनों के वाद्य की संगति में नृत्य के दृश्य उत्कीर्ण किये गये हैं। बादामी और सित्तनवासल की गुफाओं में भी नृत्य के चित्र मिलते हैं। मथुरा की कला में एक नर्तकी छोटे मण्डप में नृत्य करती हुई दिखायी गई है। मण्डप के भीतर कई व्यक्ति बाजा बजाते हुए दिखाये गये हैं। मण्डप के सामने–दर्शकों का एक समूह है। कुछ दर्शक प्रशंसा के भाव में अपने हाथ ऊपर उठाए हुए हैं।[41]

संगीत– गायन, वादन और नृत्य, संगीत के तीन मुख्य अंग कहे गये हैं और उनका पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध है। गुप्तकालीन साहित्य में हर्षोल्लास, आमोद–प्रमोद की जहाँ भी चर्चा हुई है, वहाँ संगीत के इन सभी रूपों का उल्लेख उन्मुक्त रूप से हुआ है। तत्कालीन साहित्य से ज्ञात होता है कि उस समय का नागरिक जीवन संगीत से आप्लावित था। संगीत चरम सुख का प्रतीक था और लोक–रंजन का प्रमुख साधन था। स्त्री–पुरुष सभी संगीत प्रेमी थे और समानरूप से उसमें रस लेते थे। भारतीय शासक भी उसके प्रेमी थे। उदाहरणार्थ समुद्रगुप्त। प्रयाग की प्रशस्ति में कहा गया है कि उसने संगीत के ज्ञान में निपुणता के कारण इन्द्र के गुरु नारद तथा तुम्बरू को भी लज्जित किया था, जो कि संगीत के आचार्य माने जाते थे।[42] राज–घरानों में दिन–रात निरन्तर संगीत होता रहता था।[43] नगर संगीत–ध्वनि से सदा प्रतिध्वनित होते रहते थे।[44] नगरों में संगीत–शिक्षा के लिए संगीत–शालाएँ थीं,[45] जहाँ संगीताचार्य युवक–युवतियों को संगीत–कला की शिक्षा दिया करते थे। मालविकाग्निमित्रम् में इस प्रकार के एक कला भवन का उल्लेख मिलता है। इसके अनुसार गणदास नामक आचार्य संगीत की शिक्षा देते थे।[46] राजमहलों में इसकी स्वतन्त्र व्यवस्था होती थी। वात्स्यायन ने संगीत का ज्ञान प्रत्येक नागरिक के लिए अनिवार्य माना है तथा 64 कलाओं की सूची में 'गीतम्' (गायन) को प्रथम स्थान दिया है।[47]

प्रयाग–प्रशस्ति में संगीत विद्या को 'गान्धर्व–ललित' कहा गया है।[48] संगीत के अभिन्न अंग नृत्य और वाद्य के साथ–साथ अभिनय व चित्रकला भी ललित कला के अंग हैं। इस लिए इन सबका समवेत रूप रघुवंश में महाकवि कालिदास ने 'ललित–कला' नाम से उल्लेख किया हैः 'ललित कलाविधौ'।[49] मालविकाग्निमित्र नाटक की नायिका मालविका को महाकवि ने नृत्य–गीत व अभिनय में निपुण होने से शिल्प में अद्वितीया तथा 'ललित–विज्ञान' अथवा ललित–कला में पारदर्शी कहा है।[50]

ललित कलाएँ मनोरंजन के साथ–साथ आध्यात्मिक विकास का साधन मानी जाती थीं। सांसारिक जीवन की कठोर रूक्षता को दूर करने और जीव एवं जगत के बीच रागात्मक तथा भावात्मक सम्बन्ध स्थापित करने में संगीत बहुत बड़ा साधन माना जाता था। सुन्दर संगीत के प्रभाव को व्यक्त करते हुए महाकवि ने नाटक के सूत्रधार से कहलाया है कि संगीत चित्त अथवा आत्मा को अपने राग में आबद्ध कर देता है।[51]

गुप्तयुग में संगीत आदि ललित कलाएँ अत्यन्त लोकप्रिय थीं। ललित कलाओं की इस अपूर्व अभिवृद्धि का सर्वाधिक श्रेय गुप्त–सम्राटों की कला–प्रियता को है। सम्राट समुद्रगुप्त व उसके कतिपय वंशज स्वयं ललित कलाओं के मर्मज्ञ, पारखी व उपासक थे। प्रयाग–प्रशस्ति मेंः समुद्रगुप्त को संगीत विद्या (गांधर्व–ललित) के ज्ञान में गंधर्व संगीताचार्य तुम्बरू और देवसंगीतज्ञ नारद से भी बढ़कर घोषित किया गया है।[52] संगीत के प्रेम से प्रेरित होकर ही इस संगीतविद्, 'ललित' के प्रेमी सम्राट ने वीणा शैली की स्वर्ण मुद्राएँ प्रचलित की थीं, जिसमें वह वीणा बजाता हुआ दर्शाया गया है। कुमारगुप्त प्रथम के मंदसौर–अभिलेख में दशपुर नगर के भवनों का वर्णन करते हुए वत्सभट्टि ने उन्हें संगीत के शब्दों से मुखरितः 'गान्धर्व–शब्द–मुखराणि' बताया है।[53] स्कन्दगुप्त के भितरी पाषाण स्तम्भलेख में उसके सुचरित के उल्लेख के साथ उसके संगीत–शास्त्र के ज्ञान का भी उल्लेख है।[54] अज स्वयं संगीत कला में इतना दक्ष था कि अपनी पत्नी इन्दुमती को वह स्वयं शिक्षित करता था और उसका निधन हो जाने पर 'ललित कलाओं' में 'प्रिय शिष्या' कहकर विलाप करता है।[55]

वस्तुतः गुप्तयुग में संगीत का विशेष महत्त्व परिलक्षित होता है। राजाओं की संगीतशाला में संगीत, नृत्य, नाट्यादि के अभिनय की शिक्षा का प्रबन्ध राजा की ओर से होता था। रानियाँ भी संगीत सीखती थीं। अपने नाटकों में कालिदास ने प्रेक्षकों के सर्वोच्च मनोरंजन के लिए रंग–मंच पर स्त्रियों द्वारा गीत प्रस्तुत करने का आयोजन भी किया है। अभिज्ञान–शाकुन्तलम् में नाट्यांश के पहले नटी प्रेक्षकों के श्रुति–प्रमोद के लिए गीत गाती है, जिसको सुनकर रागमयी भावना से दर्शकों की चित्तवृत्ति इतनी तन्मय होती है कि वे सभी चित्र–लिखित से प्रतीत होते हैं।[56] लोगों का ध्यान केन्द्रित करने के लिए संगीत सर्वाधिक सफलकृमाध्यम था। इस नाटक में कवि ने रानी हंसपदिका के द्वारा गाई हुई गीतिका को प्रस्तुत किया है। राजा ने इसे 'राग–परिवाहिनी' कहकर प्रशंसा की है।[57] मालविकाग्निमित्रम् नाटक का आरम्भ ही संगीत–शाला में नियुक्त संगीत के आचार्यों की स्पर्धा से होता है।[58] कालिदास ने ग्रीष्म प्रखरता को सहनीय बनाने के लिये संगीत को उत्तम साधन माना है।[59]

वादन– 'वाद्यम' (विभिन्न वाद्यों का बजाना) को वात्स्यायन द्वारा 64 कलाओं की सूची में द्वितीय स्थान प्रदान किया गया है।[60] वस्तुतः गायन के साथ–साथ वादन का भी सामञ्जस्य रहता था।[61] कदाचित् उन दिनों तन्त्रागत वाद्यों में वीणा का ही प्रमुख रूप से प्रयोग होता था। कालिदास ने उसी का उल्लेख विशेष रूप से किया है।[62] वीणा का महत्त्व इससे भी प्रमाणित होता है कि वात्स्यायन ने 64 कलाओं में 'वाद्यम' के अतिरिक्त 'वीणाडमरुकवाद्यानि' का उल्लेख पृथकरूप से किया है। भास के चारूदत्त नामक नाटक में वीणा को समुद्र से निकला हुआ रत्न बताया गया है।[63] समुद्रगुप्त और कुमारगुप्त प्रथम, दोनों का ही अंकन उनके अपने एक भाँति की स्वर्ण मुद्राओं पर वीणावादक के रूप में हुआ है। कालिदास ने ह्रदयंगम ध्वनि करने वाली वीणा को विलासी अग्निवर्ण की गोद को अशून्य करने वाली कहा है।[64] वीणा के अतिरिक्त वल्लकी, परिवादिनी, तन्त्री आदि तन्त्रागत वाद्यों का भी उल्लेख तत्कालीन साहित्य में मिलता है। सम्भवतः वे वीणा के ही रूप थे।

तत्कालीन साहित्य में सुषिर वाद्यों के रूप में वेणु[65] (बाँसुरी), कीचक,[66] शंख[67] और तूर्य[68] का उल्लेख हुआ है। शंख और तूर्य मांगलिक अवसरों तथा रण के समय काम आते थे। संगीत–साधन के रूप में कदाचित् उनका प्रयोग नहीं होता था। लोक–रंजन के रूप में वेणु का ही उपयोग होता था। वेणु की प्रशंसा करते हुए वात्स्यायन ने लिखा है कि यह वाद्य प्रियतम को आकर्षित करने का मूल मन्त्र है।[69] कीचक भी कदाचित् वेणु की ही भाँति का कोई वाद्य था, जिसका वास्तविक रूप अभी तक ज्ञात नहीं हो सका है। अनुमानतः वह वायु के प्रवाह से बजने वाला वाद्य था।[70]

चर्मवाद्यों में मुरज,[71] पुष्कर,[72] मृदंग,[73] दर्दुरशिशु[74] (नगाड़ा),[75] आदि का उल्लेख मिलता है। इनमें परस्पर किस प्रकार का भेद था, यह ज्ञात नहीं होता। मृदंग तथा पुष्कर का उपयोग शास्त्रीय गायन के साथ होता था। कालिदास लिखते हैं कि अलका के भवन मृदंगों की ध्वनि से गूँजते थे।[76] भूमरा के शिव–मन्दिर के फलकों पर शिव के गण अनेक प्रकार के वाद्य बजाते अंकित किये गये हैं। उनमें चर्मवाद्यों के तीन रूप प्रकट होते हैं। एक तो छोटा और दूसरा लम्बा है और ढोल की भाँति कन्धों से लटक रहे हैं।

ये दोनों ही गोलाकार हैं। तीसरा वाद्य लम्बा है और दोनों छोरों पर चौड़ा है, पर बीच में पतला है। उसका आकार कुछ डमरू–सा है। इन चर्मवाद्यों के अतिरिक्त शिव–गण भेरी, झाल आदि बजाते भी दिखाये गये हैं। अजन्ता की 17वीं गुहा में भी अनेक वाद्य–यन्त्रों का अंकन हुआ है। उनसे तत्कालीन वाद्य–रूपों का बहुत कुछ अनुमान किया जा सकता है। पूजा के अवसर पर घंटा और पटह बजा करते थे।

पवाया (ग्वालियर) में प्राप्त द्वार के अग्रभाग पर बने गुप्त–युगीन शिल्प में संगीत और नृत्य का जो दृश्य अंकित है, उसमें उस समय के उल्लासमय जीवन की झाँकी देखने को मिलती है। उक्त शिल्प में संगीत–नृत्य में भाग लेने वाली दस सुन्दरियाँ चित्रांकित की गयी हैं। इनमें एक लाल कमल लिए बैठी है। नृत्य करने वाली के अलावा अन्य सुन्दरियाँ भी पीठों अथवा मयूरों पर आसीन हैं, जिनमें कोई वीणा, कोई वेणु, कोई मृदंग और कोई झल्लरी अथवा कांस्यताल बजा रही है।[77] इस चित्रांकन से प्रत्यक्ष है कि संगीत–नृत्य लोकप्रिय कला थी।

धनिक व्यक्तियों के घरों में संगीतशाला बनी होती थी, जहाँ विभिन्न वाद्यों का अभ्यास किया जाता था। वसन्तसेना के भवन की संगीतशाला का वर्णन करते हुए कहा गया है कि इनमें युवतियों के कोमल–करों से बजाये जाते हुए मृदंग मेघ के समान गम्भीर शब्द कर रहे थे। क्षीणपुण्या गगनतारिका के समान कांस्यताल के गिरने का शब्द भी हो रहा था। मधुकर की मधुर गुंजार के समान बाँसुरी अत्यन्त मधुरता के साथ बजाई जा रही थी।[78]

चित्रकला– गुप्तयुगीन साहित्य तथा गुहाचित्रों से ज्ञात होता है कि चित्रकला भी इस युग में अपने परम गौरव को प्राप्त कर चुकी थी। चित्रकला को प्राचीन ग्रन्थों में 'चित्रकर्मरचना'[79] तथा 'आलेख्य'[80] कहा गया है। कालिदास के ग्रन्थों में चित्रकला से संबंधित अनेक पारिभाषिक शब्दों का उल्लेख मिलता है, जैसेः चित्र, चित्रशाला, चित्रफलक, वर्तिका (खाका बनाने की पेंसिल या लेख्य कूर्चिका), तूलिका[81] (रंग भरने का ब्रश), वर्णिका, वर्ण (रंग), वर्णिका करण्डक (रंग की मंजूषा), रेखा (खाका चित्र), उन्मीलित[82] (रंग का भरना) आदि। चित्रकला का ज्ञान सभ्य नागरिक का लक्षण माना जाता था। इसकी गणना वात्स्यायन ने 64 कलाओं के अन्तर्गत की है।[83]

चित्रकला की शिक्षा देने वाले आचार्य हुआ करते थे। नगरों में चित्रशालाएँ बनी होती थीं, जिनकी दीवारों पर तरह–तरह के चित्र बने होते थे। मालविकाग्निमित्र में इस प्रकार की एक चित्रशाला का उल्लेख मिलता है।[84] नाट्यशास्त्र में चित्रकला की दीवारों पर चित्र बनाने का वर्णन मिलता है। इसके अनुसार चित्रशाला की दीवारों को भली भाँति साफ कर उन्हें बराबर बना दिया जाय तथा उन पर विभिन्न प्रकार के लेप चढ़ा दिये जायें और इसके उपरान्त विभिन्न प्रकार के विषयों का चित्रण किया जाय।[85] नागरिक चित्रनिर्माण का अभ्यास फलक पर करते थे, जिन्हें 'चित्रफलक' कहा जाता था।[86] शाकुन्तल में दुष्यन्त अपनी वल्लभा का चित्रण फलक पर करते हुए दिखाए गए हैं। इसके सौन्दर्य को देखकर सानुमती कहती है कि ज़रा राजर्षि की चित्रकला की निपुणता को तो देखो। लगता है, जैसे मेरी सखी शकुन्तला सामने खड़ी है।[87] वस्तुतः मानव प्रतिकृतियाँ भी इतनी भावपूर्ण, सजीव और स्वाभाविक होती थीं कि प्रेक्षक भ्रमवश उन्हें वास्तविक कल्पित कर बैठता था।

पट व फलक के अतिरिक्त चित्र राजप्रासाद की भित्तियों, द्वारों, शिलापट्टों व स्तम्भों आदि पर भी उन्मीलित किये जाते थे। मेघदूत में महाकवि ने अलका के राजप्रासादों को ललित लीलाओं के चित्रों से सचित्रित बतलाया है[88] और यक्ष के प्रासाद के द्वारोपान्त (द्वार के दोनों पार्श्व) शंख व पद्म से चित्रित बतलाये गये हैं।[89] मेघदूत में शिलापट्ट पर गेरू से चित्र आलेखन का भी उल्लेख है।[90]

चित्रकला के उपकरणों में वर्तिका एवं तूलिका उल्लेखनीय हैं। वर्तिका के द्वारा खाका खींचा जाता था तथा तूलिका के द्वारा उसमें रंग भरा जाता था।[91] चित्र–निर्माण में विशेषतया लाल, पीला, नीला तथा श्वेत रंग प्रयुक्त होते थे।[92] चित्रकला में स्वाभाविकता तथा पूर्णता लाने के लिए चित्र की पृष्ठभूमि में प्राकृतिक विषयों को चित्रित किया जाता था। शाकुन्तल में दुष्यन्त प्रेयसी की चित्रभूमि

पर मालिनी नदी, हंसमिथुन, पर्वतश्रृंखला तथा कृष्णमृग की जोड़ी को चित्रित करने की कामना करते हैं।[93] वस्तुतः खाका चित्रों (Portrait) के पृष्ठ में प्राकृतिक दृश्यों अथवा विनोद–स्थान (Landscapes) का चित्रण भी आवश्यक समझा जाता था।

कालिदास के ग्रन्थों में गुप्तयुग की चित्रकला की सजीवता व आकर्षण के और भी अनेक उदाहरण वर्तमान हैं। मालविकाग्निमित्र में महाकवि ने मालविका के प्रति अग्निमित्र के हृदय में प्रथम आकर्षण उत्पन्न होने का उपादान चित्र को बताते हुए रानी की सेविका कुमुदिनी से कहलाया था कि 'सुन्दर (आकृतियों अथवा चित्रों) के प्रति मन खिंच ही जाता है', अथवा प्रेम उत्पन्न हो ही जाता है।[94]

महाकवि द्वारा चित्रकला का जो विवरण प्रस्तुत किया गया है, उससे प्रकट है कि गुप्त–युगीन चित्रालेखन–कला अन्यान्य ललितकलाओं की भाँति ही सुन्दर, सजीव, ओजस्वी और भावप्रधान थी। गुप्तों के समय की चित्रकारिता के वास्तविक नमूने हमें प्राप्त नहीं हो सके हैं, लेकिन अजन्ता और बाघ की गुफाओं के भित्ति–चित्रों को देखकर गुप्त–युगीन चित्रकला के स्वरूप का दर्शन किया जा सकता है।

कथा– मानव की प्रकृति स्वभावतः कौतुक तथा विस्मय की ओर आकृष्ट होती है। मानव की इस कौतुकमयी प्रकृति की चरितार्थता के निमित्त भारतीय साहित्य में एक नवीन काव्यपरम्परा का उदय हुआ, जो 'कथा' के नाम से अभिहित की गई है। भारत में कथाएँ केवल कौतुकमयी प्रवृत्ति को चरितार्थ करने के लिए ही नहीं; अपितु धार्मिक शिक्षण के लिए भी प्रयुक्त की जाती थीं और यही कारण है कि ब्राह्मणों ने, जैनियों ने तथा बौद्धों ने समान भाव से साहित्य के इस अंग का परिवर्धन किया है। बौद्धों के जातकों का साहित्य के इतिहास में तथा बौद्धकला के संवर्धन में विशेष महत्त्व रहा है। जैनियों के यहाँ भी इसका एक विशाल भव्य साहित्य है। पंचतंत्र स्वयं विस्मयावह कहानियों का एक सामान्य संग्रह मात्र न होकर साहित्य की दृष्टि से एक नितान्त उपादेय ग्रन्थ है, जिसका प्रभाव भारत के ही कथा–साहित्य के ऊपर न पड़कर पश्चिमी जगत के साहित्य पर भी विशेष रूप से पड़ा है।[95]

लोकप्रियता की दृष्टि से कथा मनोरंजन का एक महत्त्वपूर्ण साधन था। इसके लिए साधारणतः वक्ता और श्रोता का होना पर्याप्त था। प्राचीन काल से ही लोगों की निश्चित धारणा रही है कि अपनी बात को अधिक से अधिक लोगों तक पहुँचाने के लिए उसे कथा का रूप देना आवश्यक है। सुदूर प्राचीन काल से पूर्वजों और महापुरुषों की उदात्त चरित–सम्बन्धी गाथा को लोक–संग्रह के लिए कथा–रूप में संग्रहीत करने का सफल प्रयास किया गया है। ज्यों ही कोई चरितगाथा कथा का स्वरूप धारण कर लेती थी, वह प्रासंगिक रूप से मनोविनोद का साधन बन जाती थी, पर प्रधान रूप से वह उदारचेता मनीषियों के चरित का आदर्श समाज में प्रतिष्ठित करती थी। मनोविनोद के रूप में कथासरिता युगान्तरों तक अविच्छिन्न रूप से प्रवाहमयी रह सकती थी।

बाण ने कथा की ऊँची प्रतिष्ठा सिद्ध करते हुए लिखा हैः रानी के लिए भी कथा–वृत्तान्त जानना, पुण्य कथायें कहना, इतिहास बाँचना आदि उच्च गुण हैं।[96] सम्राट भी दिग्विजय करते समय अमात्यों और राजाओं के द्वारा सुनाई हुई कथाओं से मनोविनोद करते थे।[97] राजसभाओं में कथायें कहना विज्ञान–रूप में प्रतिष्ठित हुआ था। राजभवन में महारानी का मनोविनोद करने के लिए कथा कहने वाली परिचारिकायें नियुक्त होती थीं।[98] वस्तुतः जीवन की विविध परिस्थितियों में कथा के द्वारा मनोविनोद सम्भव रहा है। कथा कहने वाले श्रोता की कठिन समस्याओं का समाधान कभी–कभी कहानियों के माध्यम से प्रस्तुत करते थे।

समाज में कथा कहने वाले व्यक्ति की ऊँची प्रतिष्ठा स्थापित होती थी। कथा कहने वाले की योग्यता का निर्धारण करते हुए महापुराण में बतलाया गया है कि उसे सदाचारी, स्थिरबुद्धि, जितेन्द्रिय, सुन्दर तथा स्पष्ट, मधुर और प्रियभाषी होना चाहिए। वही व्यक्ति कथा कहने के लिए नियुक्त किया जाना चाहिए, जो महर्षियों के ज्ञान–सागर में अपनी प्रवृत्तियों को धोकर पवित्र हो चुका हो, जिसकी वाणी उज्ज्वल हो, जो स्वयं श्रीमान्, सुभगविजयी, वाग्मी तथा प्रतिभाशाली हो और उचित व्यवस्था करके प्रश्नकर्ता का समाधान कर सके। कथा कहने वाला दयालु, वत्सल, श्रीमान्, दूसरे का संकेत समझने वाला, अध्ययनशील, धीर–वीर, सभी विद्याओं में पारंगत, व्याख्यान–दाता, नाना–भाषा–विशारद और नाना–शास्त्र–कलाविद् होना चाहिए। कथा कहते समय अंगुली चटकाना, भौंहें नचाना, आक्षेप करना, हँसना आदि निषिद्ध थे और–

द्यूतक्रीड़ा– द्यूत भी नागरिकों के मनोरंजन का एक प्रिय साधन था। द्यूत का चाव सिन्धु–सभ्यता के युग से ही दिखाई पड़ता है। तत्कालीन पासे की गोटियों पर 1, 2, 3, 4 आदि संख्यायें अंकित मिलती हैं। वैदिक काल में सभा–भवन गाँव या नगर के लोगों के एकत्रित होने का स्थान था। वहाँ सभी नागरिक गाँव की समस्याओं पर विचार करते थे, पर ऐसी समस्यायें अधिक नहीं थीं। लोगों का सामूहिक रूप से इकट्ठे होने पर मनोरंजन का ध्यान स्वाभाविक था। सभा–भवन के मनोरंजनों में द्यूतक्रीड़ा का स्थान सर्वोपरि था।

परवर्ती युग में द्यूतक्रीड़ा का प्रभाव बढ़ता हुआ दृष्टिगोचर होता है। अमरकोश के शूद्र–वर्ग में द्यूत का समावेश मदिरा प्रकरण से अनुबद्ध मिलता है। प्रत्यक्ष है कि द्यूत का शूद्रों में विशेष प्रचलन था और इसके साथ मदिरा–पान आनुषंगिक था। इस ग्रन्थ में जुआरी के पर्याय धूर्त और कितव मिलते हैं। इससे सिद्ध होता है कि द्यूत–क्रीड़ा में धोखा–धड़ी का व्यवहार अतिशय प्रचलित था और साथ ही व्यावसायिक रूप से खेलने वालों की समाज में प्रतिष्ठा नहीं थी।

मृच्छकटिक में एक जुआ खेलने वाला (आक्षिक) द्यूत की मुद्रकण्ड से प्रशंसा करता हुआ कहता है कि 'जुआ खेलना मानो सिंहासनरहित राज्य प्राप्त करना है। यह जुआ किसी से भी (होने वाले) अपमान की गणना (परवाह) नहीं करता है, प्रतिदिन बहुत धन ले लेता है (हरा देता है), और दे देता है (जिता देता है)। धनवान व्यक्ति के द्वारा (भी) नित्य प्रचुर आय दिखाने वाले राजा के समान सेवित होता है।'[99] इस ग्रन्थ में एक दूसरे स्थान पर द्यूत, समस्त भौतिक सुखों की प्राप्ति का साधन माना गया है। '(मैंने) जुआ से ही धन पाया, जुआ से ही स्त्री (मिली), मित्र मिला, जुआ ने ही (सब कुछ) दिया, भोग किया और जुआ से ही सब कुछ नष्ट हो गया।'[100]

जुए के खेल में हारा हुआ उज्जयिनी का एक नागरिक जुआ खेलने की इच्छा को जैसे–तैसे रोकता हुआ कहता है कि 'कौड़ियों की आवाज़ मेरे मन को उसी प्रकार लुभा रही है, जिस प्रकार हाथ से राज्य निकल जाने वाले किसी राजा के हृदय में भेरी का शब्द युद्धादि के लिए लालसा उत्पन्न कर देता है।'[101] 'मैं यद्यपि यह जानता हूँ कि सुमेरु पर्वत की चोटी से गिरने के समान (महान कष्टप्रद) जुआ (अब कर्जदार होने से) नहीं खेल सकूँगा तथापि कोयल के समान मधुर कौड़ियों की आवाज़ (खनखनाहट) (मेरे) मन को निश्चित ही आकृष्ट कर रही है (अथवा खेलने को विवश कर रही है)।'[102] 'जैसे बन्धन से छूटी हुई गर्दभी दूसरों को ताड़ित करती है, वैसे ही मैं भी इस गर्दभी (जुए में प्रयुक्त कौड़ी आदि) से बुरी तरह पछाड़ा गया हूँ। इस शक्ति (कौड़ी) से मैं उसी प्रकार आक्रान्त हुआ हूँ, जिस प्रकार कि अंगराज कर्ण की शक्ति से घटोत्कच आक्रान्त हुआ था।'[103]

जुआ खेलने वाले को द्यूतकर, जुआ खेलने वालों के समूह को द्यूतकर–मण्डली तथा इसके अध्यक्ष को सभिक कहा जाता था।[104] यदि द्यूतकरों में किसी बात पर झगड़ा खड़ा होता था, तो सभिक द्यूतसम्बन्धी नियमों के अनुसार निर्णय देता था। मृच्छकटिक

I S S N NO. - 2347 – 2944 (Print)
e–I S S N NO.- 2582 – 2454 (Online)
Vol.-20, No.- III, Issues-41, YEAR- July-Sept. 2026

में जुए में हारा हुआ उज्जयिनी का नागरिक धनाभाव के कारण हारे हुए द्रव्य को जब चुकता करने में अपनी असमर्थता प्रकट करता है, उस समय सभिक उसे फटकारता है तथा शरीर को बेचकर रुपया लौटाने का आदेश देता है।[105] जब नगर–वेश्या वसन्तसेना मध्यस्थता करती है, उस समय बड़ी कठिनाई से उसे मुक्ति मिल पाती है। वह सभिक को फटकार लगाती हुई कहती है, 'अरे दुर्बल! तू तो नष्ट हो चुका। केवल कतिपय मुहरों के लिये पाँच इन्द्रियों वाले (ईश्वर की अनुपम रचना) मनुष्य को मार रहा है।[106] सभिक के अधिकार अधिक थे। असहाय अवस्था में पाने पर वह पराजित व्यक्ति को द्रव्यदान से मुक्ति का आदेश दे सकता था। मृच्छकटिक में जीता हुआ जुआड़ी हारे से कहता है कि यदि इस समय तू पाताल में अथवा इन्द्र की शरण में भी जाता है, तो भी सभिक को छोड़कर रुद्र भी तेरी रक्षा नहीं कर सकते।[107] द्यूत पर नियन्त्रण रखने के लिए नगरों में द्यूताध्यक्ष नामक एक कर्मचारी रहता था।

वात्स्यायन ने कामसूत्र में 64 कलाओं के अन्तर्गत 'द्यूतविशेषः' (द्यूतकला का परिज्ञान) तथा 'आकर्षक्रीड़ा' (पासों को अनुकूल फेंकने की कला) को यथेष्ट स्थान दिया है,[108] जिससे द्यूतक्रीड़ा की लोकप्रियता प्रदर्शित होती है। साथ ही कामसूत्र में अनेक स्थलों पर द्यूतक्रीड़ा का उल्लेख प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ, नागरिक के निवास के बाह्य प्रकोष्ठ में अन्यान्य सामान के साथ द्यूत के सामान आकर्षफलक और द्यूतफलक की गणना भी की गई है।[109] उद्यान–विहार के अवसर पर अनेक मनोविनोदों के साथ द्यूतक्रीड़ा का उल्लेख भी विशेषरूप से प्राप्त होता है।[110] 'रघुवंश' के एक श्लोक से भी द्यूतक्रीड़ा (दुरोदर) के प्रचलित होने का प्रमाण मिलता है।[111]

मृगया– प्राचीन भारत में प्रचलित मनोविनोद के साधनों में मृगया को विशिष्ट स्थान प्राप्त था। मृगया व्यवसाय के लिए हो सकती थी और साथ ही मनोरंजन के लिए भी। मनोरंजन के लिए जो मृगया होती थी, उसमें कुछ न कुछ प्राप्ति होती ही थी। इसी प्रकार व्यवसाय के लिए भी जो मृगया होती थी, उसमें प्रायः मृगया का मनोरंजन का होना अवश्यम्भावी था। वस्तुतः मृगया का मनोरंजन से अनिवार्य सम्बन्ध स्थापित था। भारत के पाषाणकालीन मानव द्वारा प्राकृतिक गुफाओं में बनाये हुए मृगया के चित्रों से भी यही सिद्ध होता है कि आदिम काल से ही व्यावसायिक मृगया को भी मनोरंजन का साधन माना गया है। सिन्धु–सभ्यता के लोग भी पशु–पक्षियों की मृगया करते थे। उस समय से लेकर गुप्तकाल तक मृगया की निरन्तरता एवं अत्यधिक लोकप्रियता के प्रमाण उपलब्ध होते हैं।

मृगया गुप्तयुग में मनोरंजन का प्रधान साधन था, जिसे प्रायः तुरंग पर चढ़कर खेला जाता था तथा उसके निमित्त निपानवती, स्थिर (कर्दमविहीन), मृग, गव्य तथा पक्षियों से परिपूर्ण अरण्य–भूमि चुनी जाती थी।[112] कालिदास के ग्रन्थों में आखेट के विस्तृत विवरण मिलते हैं। रघुवंश में तत्कालीन राजकीय मृगया का वर्णन दशरथ की मृगया के माध्यम से मिलता है। राजा ने मृगवन में जाने के लिए उपयुक्त वेश धारण किया। उनके कण्ठ से धनुष लटक रहा था, वनमाला से मौलि की गाँठ बाँधी गई थी। राजा ने पत्तों के समान हरा कवच धारण किया था। मृगवन में पहले से ही जाल और शिकारी कुत्ते लेकर उनके सेवक पहुँच चुके थे। वहाँ की भूमि घोड़ों के दौड़ने योग्य स्थिर थी। उसमें छोटे–बड़े जलाशय थे, जिनके चारों ओर बहुत से हरिण, पक्षी और बनेली गायें घूमा करती थीं। वन में हरिण, हरिणियों और मृगशावकों का झुण्ड, जो कृष्णसार के नेतृत्व में चलता था, अत्यन्त मनोरम था। ज्यों ही राजा ने उनका पीछा किया कि चारों ओर मृग बिखर गये और कहीं–कहीं खड़े होकर चंचल नेत्रों से उसी की ओर देखने लगे।[113]

कालिदास ने मृगया का मानों आँखों देखा विवरण प्रस्तुत किया है। इसके अनुसार ग्रीष्म में दिन की दोपहरी में भी यह मृग, यह वराह, यह शार्दूल आदि कोलाहल करते हुए वन में मारे–मारे घूमना पड़ता था। सड़े–सड़े पत्तों के कारण कषाय पहाड़ी नदियों का जल पीना पड़ता था। वह भी जब कभी मिल जाय। शूल पर पकाया हुआ मांस ही भोजन होता था। घोड़े के पीछे–पीछे दौड़ने से सारे शरीर में कण्डा लग जाता था। रात में भी नींद नहीं आती थी। प्रातःकाल होते ही चिड़ीमार वन–ग्रहण का शोर मचाते थे। इस मृगया में राजा के साथ उसके सैनिक, विटचेटक, सेना, दौवारिक, परिजन आदि जाते थे।

भारतीय साहित्य में मृगया का गुण–दोष विवेचन प्रायः मिलता है। सर्वोपरि दोष का निदर्शन दशरथ और पाण्डु की मृगयाओं में मिलता है, जिनमें उन्होंने मुनिकुमारों की ही अनजाने हत्या कर दी थी। रघुवंश में कहा गया है कि दशरथ के मन को आखेट के व्यसन ने चतुर कामिनी की तरह अपने वश में कर लिया था।[114] अर्थशास्त्र में कौटिल्य का मत है कि 'मृगया में व्यायाम होता है। श्लेष्म, पित्त, मेद और स्वेद का नाश होता है। चलते हुए तथा स्थिर प्राणी को लक्ष्य बनाने का अभ्यास होता है और क्रुद्ध पशुओं के आकार का ज्ञान तथा सहसा पैदल चलने का अभ्यास होता है।' इसी प्रकरण में पिशुन का मत दिया गया है कि मृगया में डाकू, शत्रु, हिंस्र–जन्तु, दावाग्नि, प्रस्खलन, दिशाभ्रम, भूख–प्यास के कारण प्राण जाने तक भय रहता है।[115]

कालिदास ने मृगया के दोषों का परिचय तो दिया है, पर स्पष्ट मत व्यक्त किया है कि दुष्यन्त को मृगया से लाभ ही हुआ है।[116] कालिदास ने मृगया के गुणों का आकलन कौटिल्य की भाँति ही किया है। अभिज्ञानशाकुन्तल में सेनापति द्वारा दुष्यन्त से कहे गए शब्दों में'आखेट से चर्बी घट जाती है, तोंद छँट जाती है, शरीर हलका और फुर्तीला हो।'

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. देखिए परिशिष्ट।
2. कामसूत्र, 1, 3, 22.
3. वामन, काव्यालंकारसूत्र, 1, 330दृ31।
4. नाट्यशास्त्र, 1, 104.
5. वही, 1, 109.
6. वही, 1, 114.
7. मालविका., 1, 4.
8. उपाध्याय, बलदेव, संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ. 463.
9. नाट्यशास्त्र, 36, 74–75.
10. मालविका., अंक 1.
11. शाकुन्तल., 1, 2.
12. वही।
13. मालविका., अंक 1.

14. वही, 1, 2.
15. मालविका., 5, 20; विक्रमो., 5, 24–25; शाकुन्तल., 7, 35.
16. नाट्यशास्त्र, 2, 97.
17. रघु., सर्ग 6.
18. मालविका., अंक 1.
19. शाकुन्तल., अंक 1.
20. मालविका., अंक 2.
21. वही।
22. .शाकुन्तल., प्रस्तावना।
23. कामसूत्र, 1, 4, 15–16.
24. वही, 1, 3, 15.
25. देखिए परिशिष्ट।
26. मालविका., अंक 1.
27. वही।
28. वही।
29. 'कालिदास और उनका युग', पृ. 144–45.
30. मालविका., अंक 2.
31. रघु., 5, 65.
32. मेघ., 1, 39.
33. सृष्टिखण्ड में पुष्करतीर्थ महिमा प्रकरण।
34. स्कन्दपुराण के नागरखण्ड में सिद्धेश्वरलिंग प्रकरण।
35. विष्णुपुराण, 5, 7; भागवत, 10, 16.
36. विष्णुपुराण, 5, 13; भागवत, 10, 33.
37. भागवत., 10, 18.
38. उपाध्याय रामजी, पृ. 913.
39. साहनी, सारनाथ संग्रहालय सूची, पृ. 234; संख्या सी. (बी.)।
40. उपाध्याय, रामजी, पृ. 913.
41. प्रा. भा. में नगर तथा नगर जीवन', पृ. 346, फलक 11, चित्र 12.
42. प्रयाग प्रशस्ति, पंक्ति 27.
43. रघु., 19, 5.
44. वही, 19, 14.
45. मालविका., अंक 1.
46. वही।
47. कामसूत्र, 1, 3, 15.
48. पंक्ति 27.
49. 8, 67.
50. 2, 13.
51. शाकुन्तल., अंक 1, प्रस्तावना।
52. पंक्ति 27.
53. पंक्ति 7.
54. पंक्ति 8.
55. रघु., 8, 67.
56. अंक 1, प्रस्तावना।
57. शाकुन्तल., अंक 5.
58. मालविका., अंक 1.
59. ऋतु., 1, 28.
60. कामसूत्र, 1, 3, 15.
61. मेघ., 1, 60; 2, 26; रघु., 2, 12.
62. रघु., 8, 33; 19, 35; मेघ., 1, 26; 49.
63. चारूदत्त, अंक 3.
64. रघु., 19, 13.
65. रघु., 19, 35.
66. वही, 2, 12; कुमार., 1, 8; मेघ., 1, 60.
67. रघु., 6, 9; 7, 63, 64; कुमार., 1, 23.
68. रघु., 3, 39; 6, 9; 6, 56; 10, 76; 16, 87; विक्रमो., 4, 12.
69. कामसूत्र, 7, 2, 43.
70. गुप्त, परमेश्वरीलाल, 'गुप्त साम्राज्य', पृ. 535.

I S S N NO. - 2347 – 2944 (Print)
e–I S S N NO.- 2582 – 2454 (Online)
Vol.-20, No.- III, Issues-41, YEAR- July-Sept. 2026

71. मेघ., 1, 60; कुमार., 6, 40; मालविका., 1, 22.
72. मेघ., 2, 5; रघु., 19, 14; मालविका., 1, 21.
73. रघु., 13, 40; 16, 13; 16, 64; मालविका., अंक 1.
74. रघु., 10, 76.
75. ऋतु., 2, 1; 4.
76. मेघ., 2, 1.
77. 1, 3, 15.
78. वही, 1, 4, 4.
79. वही, 1, 4, 25.
80. रघु., 9, 7.
81. रघु., 9, 13.
82. वही, 9, 13.
83. वही, 9, 69.
84. अधिकरण 8 में पुरुष–व्यसन–प्रकरण।
85. शाकुन्तल., 2, 4.
86. मृच्छकटिक, 2, 7.
87. वही, 2, 8.
88. वही, 2, 5.
89. वही, 2, 6.
90. वही, 2, 1.
91. वही, अंक 2.
92. वही।
93. वही, 2, 13.
94. वही, 2, 3.
95. कादम्बरी, पृ. 93.
96. वही, पृ. 118.
97. मालविका., अंक 4.
98. पांथरी, भगवती प्रसाद, 'भारत का स्वर्णयुग', पृ. 406.
99. मृच्छकटिक, अंक 4.
100. मुद्राराक्षस, अंक 2.
101. कामसूत्र, 1, 3, 15.
102. कुमार., सर्ग 7.
103. वही, 1, 32.
104. कामसूत्र, 1, 3, 15.
105. अंक 1.
106. नाट्यशास्त्र, अंक 6.
107. शाकुन्तल., अंक 6.
108. वही।
109. मेघ., 2, 1.
110. वही, 20.
111. वही, 47.
112. कुमार., सर्ग 7.
113. वही, सर्ग 15.
114. शाकुन्तल, अंक 6.
115. मालविका., अंक 1.
116. उपाध्याय, बलदेव, पृ. 6–7.

*****